

भारतीय ज्ञान प्रणाली के दृष्टिकोण से मध्यस्थता की उभरती भूमिका: आधुनिक भारत के लिए सीख

जुबैर अहमद खान*
प्रोफेसर डॉ. निशा धनराज देवानी**
श्री सिद्धांत सोती***

सारांश

वैकल्पिक विवाद समाधान (एडीआर), और विशेषतः मध्यस्थता, भारत की न्यायपालिका पर लंबित मामलों के भारी बोझ के मद्देनज़र नई प्रासंगिकता प्राप्त कर चुकी है। यह आलेख सर्वप्रथम 'वैकल्पिक' शब्द को लेकर व्याप्त भ्रम को स्पष्ट करता है और तर्क देता है कि एडीआर न्यायालयों का प्रतिस्थापन नहीं, अपितु उनका पूरक है। इसके पश्चात आलेख मध्यस्थता की जड़ों को भारतीय ज्ञान परंपरा—वैदिक-कालीन पंचायत व्यवस्था, बौद्ध दर्शन तथा पतंजलि के विधिशास्त्र—में खोजता है, और इनकी तुलना समकालीन विधायी ढाँचे से करता है, जिसमें औद्योगिक विवाद अधिनियम 1947, सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 89, मध्यस्थता एवं सुलह अधिनियम 1996 तथा हाल में अधिसूचित मध्यस्थता अधिनियम 2023 सम्मिलित हैं। न्यायालय और अस्पताल की सुपरिचित उपमा के माध्यम से मध्यस्थता की सीमाओं तथा उपयोगिता, दोनों को रेखांकित किया गया है। अंततः आलेख ऑनलाइन मध्यस्थता, सामुदायिक मध्यस्थता तथा नवगठित भारतीय मध्यस्थता परिषद की भूमिका की समीक्षा करते हुए यह निष्कर्ष निकालता है कि सुदृढ़ प्रशिक्षण, प्रमाणन और संस्थागत समर्थन के अभाव में मध्यस्थता की वास्तविक क्षमता अधूरी रह जाएगी।

मुख्य शब्द: मध्यस्थता; वैकल्पिक विवाद समाधान; पंचायत व्यवस्था; धारा 89, सिविल प्रक्रिया संहिता; मध्यस्थता अधिनियम, 2023; ऑनलाइन विवाद समाधान।

१. प्रस्तावना

वैकल्पिक विवाद समाधान (एडीआर) ने हाल के वर्षों में विशेष महत्व प्राप्त किया है, विशेषतः बढ़ती मुकदमेबाज़ी और न्यायालयों के समक्ष लंबित मामलों की उस विशाल संख्या के मद्देनज़र, जिसे निपटाने में अदालतें संघर्षरत हैं। 'वैकल्पिक' शब्द का प्रायः यह गलत अर्थ लगाया जाता है मानो यह विद्यमान न्यायिक प्रणाली में किसी कमी का द्योतक हो अथवा उसका प्रतिस्थापन हो। वस्तुतः न्यायपालिका और विधिव्यवसायियों द्वारा इस शब्द का यह अर्थ लगाया जाना उचित नहीं है; इसके स्थान पर 'उचित विवाद समाधान', 'प्रभावी विवाद समाधान' अथवा 'अनुकूल विवाद समाधान' जैसे पद निस्संदेह किसी भी भ्रांति को दूर करेंगे और दृष्टिकोण में वांछित परिवर्तन लाने में सहायक होंगे।¹ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि विधिक न्यायालयों का कोई स्थानापन्न नहीं हो सकता, और औपचारिक न्यायिक संस्था के रूप में अदालतें सदैव बनी रहेंगी।

* एसोसिएट प्रोफेसर, गुरु गोबिंद सिंह इंद्रप्रस्थ विश्वविद्यालय

** विधि विभाग, महाराजा अग्रसेन इंस्टीट्यूट ऑफ मैनेजमेंट स्टडीज

*** श्री सिद्धांत सोती अधिवक्ता दिल्ली हाई कोर्ट

1 Law Commission of India, Report No. 129, Urban Litigation: Mediation as Alternative to Adjudication (1988)। इस रिपोर्ट ने सर्वप्रथम भारत में न्यायालयों के पूरक के रूप में सुलह/मध्यस्थता-तंत्र की अनुशंसा की थी।

एडीआर का उद्देश्य न्यायालयों की भूमिका को प्रतिस्थापित करना नहीं, अपितु उसे पूरक बनाना है, जिसके लिए दोनों के मध्य एक सहयोगात्मक संबंध आवश्यक है। वर्तमान युग में यह विशेष रूप से महत्वपूर्ण है, क्योंकि भारत लगभग 5.6 करोड़ लंबित मामलों के बोझ से जूझ रहा है;² विद्यमान गति से इन्हें पूर्णतः निपटाने में वर्षों, यहाँ तक कि दशकों का समय लग सकता है। इस दीर्घकालिक प्रक्रिया के परिणामस्वरूप समय, धन और संसाधनों की पर्याप्त क्षति होती है, जिससे जनसाधारण में असंतोष उत्पन्न होता है और न्यायिक प्रणाली के प्रति विश्वास क्षीण होता है। एडीआर का प्राथमिक लक्ष्य त्वरित न्याय है, जिससे लंबित मामलों में कमी आए और न्यायाधीशों को उन महत्वपूर्ण वादों—रिट याचिकाओं, जनहित याचिकाओं तथा गंभीर आपराधिक मामलों—पर ध्यान केंद्रित करने का अवसर मिले, जिनमें विलंब के कारण साक्ष्य नष्ट हो जाते हैं और अपराधी प्रायः दंड से बच निकलते हैं। कारागारों में हज़ारों विचाराधीन बंदी केवल इसलिए बंद हैं क्योंकि वे ज़मानत की राशि नहीं जुटा पाए, और कई बार उनकी हिरासत की अवधि संभावित सज़ा से भी अधिक हो जाती है, जिससे उनके व्यवसाय, परिवार और सामाजिक संबंध छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। भारत की तीव्र गति से विस्तार करती अर्थव्यवस्था के लिए एक सुदृढ़ विधिक ढाँचा अपरिहार्य है; यदि विवाद-निपटान तंत्र अपने ही बोझ तले चरमराता रहा, तो इसका सीधा प्रभाव आर्थिक विकास तथा देश की अंतरराष्ट्रीय विश्वसनीयता पर पड़ेगा। यहाँ यह स्पष्ट करना उपयोगी होगा कि एडीआर की छत्रछाया में मध्यस्थता, सुलह, माध्यस्थता तथा लोक अदालत जैसी भिन्न-भिन्न प्रक्रियाएँ सम्मिलित हैं, जो पारस्परिक सहमति, तृतीय पक्ष की भूमिका की प्रकृति तथा परिणाम की बाध्यकारिता की दृष्टि से एक-दूसरे से भिन्न हैं। मध्यस्थता में मध्यस्थ पक्षों को समाधान तक पहुँचाने में सहायता करता है किंतु निर्णय स्वयं नहीं सुनाता, जबकि माध्यस्थता में मध्यस्थाधिकरण एक बाध्यकारी निर्णय (अधिनिर्णय) पारित करता है इस अर्थ में मध्यस्थता संवाद-केंद्रित और सहयोगमूलक बनी रहती है। किसी भी सभ्य समाज की पहचान इसी बात से होती है कि वह अपने आंतरिक विवादों का समाधान शांतिपूर्ण और सौहार्दपूर्ण ढंग से करने में सक्षम है; इस दृष्टि से मध्यस्थता केवल एक प्रक्रियागत उपकरण नहीं, अपितु एक सामाजिक मूल्य भी है।

२. भारतीय ज्ञान परंपरा में मध्यस्थता की जड़ें

भारत की सुदीर्घ पंचायत प्रणाली को प्रायः इस क्षेत्र में मध्यस्थता के अग्रदूत के रूप में उद्धृत किया जाता है। विवाद-समाधान की यह सदियों पुरानी ग्राम-आधारित व्यवस्था ब्रिटिश शासन की स्थापना तक प्रचलित रही, जिसके पश्चात साम्राज्य की न्यायिक अदालतें अस्तित्व में आईं। एक खुले सार्वजनिक मंच पर विवादों को समाज अथवा क्षेत्र के वयोवृद्ध जनों के समक्ष प्रस्तुत किया जाता था, जहाँ दोनों पक्ष अपने-अपने तर्क रखने हेतु उपस्थित होते थे। मूलतः 'पंच' की उपाधि को 'पंच परमेश्वर' के रूप में संबोधित किया जाता था, जो इस संस्था को एक प्रकार की दैवीय प्रामाणिकता प्रदान करता था। मुल्ला के हिंदू विधि-ग्रंथ के अनुसार, प्राचीन भारत में विधि की खोज वैदिक काल में आरंभ हुई मानी जाती है, जो लगभग 4000 से 1000 वर्ष ईसा-पूर्व तक विस्तृत था।³ आरंभिक आर्य समाज जीवन के प्रति उत्साह से परिपूर्ण था और सभ्यता तथा बौद्धिक अन्वेषण की एक दीर्घ परंपरा का वाहक था। यह समाज मुख्यतः दैवीय ज्ञान, तर्क और विवेक के अंतर्निहित सिद्धांतों पर आश्रित था, जिन्हें स्वर्ग और पृथ्वी दोनों पर शासक माना जाता था। ज्ञान, तर्क और विवेक के इस समन्वित दर्शन को मध्यस्थता के आरंभिक स्रोतों में गिना जा सकता है, और यह दर्शन आज भी पाश्चात्य जगत

2 राज्यसभा में विधि एवं न्याय मंत्रालय का लिखित उत्तर (23 जुलाई 2026), नेशनल ज्यूडिशियल डेटा ग्रिड (NJDG) के आँकड़ों पर आधारित; कुल लंबित मामले लगभग 5.64 करोड़।

3 दिनशाह फर्दूनजी मुल्ला, प्रिंसिपल्स ऑफ हिंदू लॉ (मुल्लाज़ हिंदू लॉ) (LexisNexis, नवीनतम संस्करण)।

में व्यापक रूप से प्रचलित है। परिषद की यह व्यवस्था विवाद-समाधान के सहभागी दृष्टिकोण—स्वैच्छिक भागीदारी की एक उल्लेखनीय माला सहित—का समर्थन करती थी, जो समकालीन मध्यस्थता का एक मौलिक सिद्धांत है।

बौद्ध दर्शन संघर्ष-समाधान के सर्वाधिक प्रभावी साधन के रूप में ध्यान की वकालत करता है। बुद्ध के अनुसार ध्यान ज्ञान की ओर ले जाता है, जबकि उसका अभाव अज्ञानता उत्पन्न करता है—यह जानना आवश्यक है कि क्या हमें आगे बढ़ाता है और क्या प्रगति में बाधक है, तथा वह मार्ग चुनना चाहिए जो अंततः ज्ञान की ओर ले जाए। यह बौद्ध उक्ति इस विचार को प्रतिबिंबित करती है कि मध्यस्थता भूतकाल के विवादों पर केंद्रित होने के बजाय भविष्य-उन्मुख होती है। प्राचीन विधिवेत्ता पतंजलि के अनुसार, मध्यस्थता में औपचारिक रूप से सही और गलत का निर्धारण करने के बजाय, सर्वाधिक ईमानदार प्रयासों के माध्यम से त्वरित प्रगति प्राप्त की जाती है। यह एक प्रलेखित ऐतिहासिक तथ्य है कि जटिल विवाद प्रायः राजा के औपचारिक न्यायालयों के बाहर, राजा द्वारा नियुक्त मध्यस्थों के माध्यम से सुलझाए जाते थे। धर्मशास्त्रीय परंपरा में भी विवाद-समाधान के विविध स्तर मान्य थे: कुल (परिवार), श्रेणी (व्यापारिक संघ), गण (सामाजिक समूह) और अंततः राजा का न्यायालय—इस क्रम में प्रत्येक उच्चतर स्तर पर तभी पहुँचा जाता था जब निम्नतर स्तर पर समाधान संभव न हो सके। यह व्यवस्था इस आधुनिक सिद्धांत की पूर्वछाया प्रस्तुत करती है कि विवाद को उसकी प्रकृति के अनुरूप सर्वाधिक उपयुक्त और न्यूनतम औपचारिक मंच पर ही पहले सुलझाने का प्रयास किया जाना चाहिए, तथा न्यायालय अंतिम उपाय के रूप में सुरक्षित रहे। यही तर्क-सूत्र आज सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 89 तथा मध्यस्थता अधिनियम, 2023 के अंतर्गत मुकदमा-पूर्व मध्यस्थता के प्रावधानों में भी प्रतिध्वनित होता है।

३. न्यायालय एवं मध्यस्थता: 'अस्पताल की उपमा'

वैश्वीकरण, उदारीकरण और तीव्र आर्थिक विकास के प्रभावस्वरूप भारत में मुकदमों की संख्या में नाटकीय वृद्धि हुई है। विश्व की श्रेष्ठतम न्यायिक प्रणालियों में गिने जाने के बावजूद, हमारी अदालतें प्रायः आलोचना का सामना करती हैं क्योंकि विवाद-निपटान में असाधारण रूप से लंबा समय लग जाता है, जिस कारण मुकदमे का एक सम्मानित पक्ष भी अब न्यायिक प्रक्रिया के माध्यम से समाधान चाहने में हिचकिचाता है। इसी के मद्देनज़र भारतीय समाज विवाद-समाधान की वैकल्पिक विधियों की ओर उन्मुख हुआ है। पारंपरिक पंचायत प्रणाली में पंच पक्षों के मध्य समझौता करने का ठोस प्रयास करते थे, किंतु असफल होने पर वे एक ऐसा निर्णय सुनाते थे जो संबंधित पक्षों और व्यापक समुदाय, दोनों के लिए बाध्यकारी होता था। पंचायत में सहभागिता पूर्णतः स्वैच्छिक नहीं होती थी, क्योंकि अनुपस्थिति अथवा एकतरफा वापसी पर पक्षों को सामाजिक परिणामों का सामना करना पड़ता था। न्यायालयों की तुलना में मध्यस्थता की उपयोगिता को एक सुपरिचित उपमा से स्पष्ट किया जा सकता है, जिसमें अदालत जाने वाले व्यक्ति की तुलना चिकित्सा-सहायता खोजते रोगी से की जाती है। कल्पना कीजिए कि स्थानीय प्रशासन किसी नगर में दस-शय्याओं वाला एक छोटा अस्पताल स्थापित करता है, जिसमें केवल एक शल्य-चिकित्सा कक्ष और एक शल्य-चिकित्सक नियुक्त है, किंतु कोई बहिरंग रोगी-विभाग (आउटपैशेंट क्लिनिक) नहीं है। ऐसी स्थिति में सभी रोगियों को चाहे उनकी व्याधि कितनी ही मामूली क्यों न हो भर्ती कर शल्य-चिकित्सा हेतु बाध्य किया जाएगा, क्योंकि उनका उपचार करने वाला कोई सामान्य चिकित्सक उपलब्ध नहीं। न्यायालय भी, मध्यस्थता-केंद्रों के अभाव में, ठीक ऐसे ही अस्पताल के समान हैं जिनमें बहिरंग विभाग और सामान्य चिकित्सक न हों। भारत के विधि आयोग ने अपनी 129वीं रिपोर्ट में 1988 में ही इस समस्या को रेखांकित करते हुए नगरीय मुकदमेबाज़ी के भार को कम

करने हेतु सुलह-न्यायालयों की स्थापना की अनुशंसा की थी,⁴ और तत्पश्चात् न्यायमूर्ति मालीमठ की अध्यक्षता वाली शेष-मामला समिति ने भी 1990 में इसी दिशा में सिफ़ारिश दोहराई।⁵ जिस प्रकार आहार के एक अंग के रूप में योग का अभ्यास शारीरिक स्वास्थ्य के लिए लाभकारी होने पर भी अस्पतालों और शल्य-प्रक्रियाओं को अप्रचलित नहीं बनाता, उसी प्रकार मध्यस्थता के गुण गिनाना अथवा मुकदमेबाज़ी की हानियाँ बताना यह सिद्ध नहीं करता कि मध्यस्थता सदैव न्यायालयीन निर्णय से श्रेष्ठ है। मध्यस्थता एक पृथक प्रक्रिया है जो विशिष्ट प्रकार के विवादों के लिए उपयुक्त है; जहाँ मध्यस्थता उपयुक्त होते हुए भी असफल रहती है, वहाँ न्यायालय ही अंतिम और एकमात्र सहारा बने रहते हैं। दूरगामी सार्वजनिक निहितार्थ वाले आपराधिक मामले, बड़ी संख्या में लोगों को प्रभावित करने वाले वाद, तथा कराधान और प्रशासनिक विधि से संबद्ध विषय इन सबका निर्णय न्यायिक प्रक्रिया के माध्यम से ही होना चाहिए; इसी प्रकार धोखाधड़ी, जालसाज़ी अथवा प्रपीड़न से जुड़े सिविल विवादों में भी औपचारिक न्यायालयीन हस्तक्षेप आवश्यक रहता है। इसके विपरीत, पारिवारिक और वैवाहिक विवाद विशेषतः संतान की अभिरक्षा तथा भरण-पोषण से संबंधित प्रश्न मध्यस्थता के लिए सर्वाधिक उपयुक्त श्रेणी में आते हैं। सर्वोच्च न्यायालय ने के. श्रीनिवास राव बनाम डी.ए. दीपा मामले में स्पष्ट किया कि मध्यस्थता को विवाद-समाधान की एक विधि के रूप में विधिक मान्यता प्राप्त है, और पारिवारिक न्यायालय अधिनियम, 1984 की धारा 9 के अनुसार पारिवारिक न्यायालयों का यह कर्तव्य है कि वे प्रथम सुनवाई के चरण में ही वैवाहिक विवादों को मध्यस्थता केंद्रों के पास भेजने का प्रयास करें।⁶ यह निर्णय इस लेख के केंद्रीय तर्क को पुनः पुष्ट करता है: विवाद की प्रकृति ही यह निर्धारित करती है कि वह न्यायालय के लिए उपयुक्त है अथवा मध्यस्थता के लिए—यह विकल्प दोनों में से किसी एक को सार्वभौमिक रूप से श्रेष्ठ मानने का नहीं, अपितु उपयुक्तता के सूक्ष्म विवेचन का है।

४. मध्यस्थता और बातचीत (नेगोशिएशन)

जब कोई विवाद उत्पन्न होता है, तो पक्षों के समक्ष उपलब्ध प्रथम विकल्प बातचीत होता है एक ऐसी प्रक्रिया जिसमें कोई तृतीय पक्ष सम्मिलित हुए बिना पक्ष स्वयं अपने मतभेद सौहार्दपूर्ण ढंग से सुलझाते हैं। बातचीत के माध्यम से निर्मित अनुबंध कानूनी रूप से बाध्यकारी और प्रवर्तनीय होता है। मध्यस्थता में, इसके विपरीत, एक तटस्थ मध्यस्थ पक्षों को उनके मतभेद दूर करने और पारस्परिक रूप से स्वीकार्य समझौते तक पहुँचने में सहायता करता है। बातचीत और मध्यस्थता, दोनों ही सामान्यतः अनौपचारिक एवं गैर-बाध्यकारी प्रकृति के होते हैं, तथा दोनों तब सर्वाधिक उपयुक्त सिद्ध होते हैं जब पक्षों को अपनी गोपनीयता अथवा सार्वजनिक छवि की सुरक्षा करनी हो, अथवा अत्यधिक व्यय व समय के बिना त्वरित समाधान अपेक्षित हो। बातचीत के मूल्य को सुदृढ़ करने की कई तकनीकें प्रचलित हैं:

- प्रथम, पारस्परिकता के सिद्धांत का उपयोग—विरोधी पक्ष को उपयोगी सूचना प्रदान कर सकारात्मक प्रतिक्रिया की संभावना बढ़ाना;
- द्वितीय, बहु-मुद्दा विनिमय दोनों पक्ष अल्प-मूल्य की वस्तुओं का त्याग कर अधिक-मूल्य की वस्तुएँ प्राप्त करते हैं;

4 सुप्रा नोट 1।

5 न्यायमूर्ति बी.एस. मालीमठ, प्रतिवेदन, शेष-मामला समिति (Arrears Committee Report) (भारत सरकार, 1990)।

6 K. Srinivas Rao v. D.A. Deepa, (2013) 5 SCC 226; पारिवारिक न्यायालय अधिनियम, 1984, धारा 9।

- तृतीय, बहु-विकल्प प्रस्तुत करना, जिससे यह संकेत मिलता है कि मूल्य-सृजनकारी विनिमय कहाँ संभव है; और
- चतुर्थ, निपटान-पश्चात समायोजन की खोज अर्थात् यह पूछना कि क्या अंतिम प्रस्ताव को और परिष्कृत किया जा सकता है, अन्यथा विद्यमान समझौते के साथ आगे बढ़ना।

मध्यस्थता (अथवा अन्य गैर-न्यायिक एडीआर प्रक्रियाओं) के लाभों को प्रभावी ढंग से प्रदर्शित करने हेतु मुकदमेबाज़ी की सीमाओं को स्मरण रखना आवश्यक है, किंतु यह स्वीकार करना भी उतना ही महत्वपूर्ण है कि न्यायालय विवाद-निपटान का एक व्यवहार्य और अपरिहार्य साधन बने रहेंगे। वास्तविक प्रश्न यह नहीं है कि मध्यस्थता अथवा मुकदमेबाज़ी में कौन श्रेष्ठ है, अपितु यह है कि किसी विशिष्ट प्रकार के संघर्ष हेतु कौन-सी प्रक्रिया सर्वाधिक उपयुक्त है। सफल सौहार्दपूर्ण मध्यस्थता में पक्षों के संयुक्त प्रयासों से 'जीत-जीत' दृष्टिकोण साकार होता है, जिसमें समग्र मूल्य में वृद्धि होती है और सभी पक्षों की आवश्यकताएँ पूर्ण होती हैं—एक ऐसा परिणाम जो अधिक प्रतिकूल विवाद-समाधान विधियों से प्राप्त करना प्रायः दुष्कर होता है। व्यवहार में मध्यस्थता को सामान्यतः दो शैलियों में वर्गीकृत किया जाता है सुविधाप्रदायी मध्यस्थता, जिसमें मध्यस्थ केवल संवाद को सुगम बनाता है और पक्षों को स्वयं समाधान तक पहुँचने देता है; तथा मूल्यांकनात्मक मध्यस्थता, जिसमें मध्यस्थ विवाद की गुणवत्ता पर अपनी राय भी व्यक्त करता है, यद्यपि निर्णय अंततः पक्षों पर ही छोड़ देता है।⁷ भारत में विकसित हो रही मध्यस्थता-संस्कृति में अधिवक्ताओं की भूमिका भी रूपांतरित हो रही है, पारंपरिक प्रतिकूल पैरवी के स्थान पर अधिवक्ता अब अपने मुक्किलों को मध्यस्थता-कक्ष में सूचित एवं रचनात्मक भागीदारी हेतु तैयार करने वाले सुविधाप्रदाता की भूमिका भी निभाने लगे हैं। यह रूपांतरण विधि-शिक्षा में मध्यस्थता-कौशल के औपचारिक समावेशन की माँग करता है, जिसे राष्ट्रीय विधिक सेवा प्राधिकरण तथा विधि विश्वविद्यालय संयुक्त रूप से पूरा कर सकते हैं।

५. भारत में मध्यस्थता को विधायी मान्यता

भारत में मध्यस्थता को संस्थागत रूप देने की प्रक्रिया क्रमिक रही है। औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 की धारा 4 के अंतर्गत नियुक्त सुलह अधिकारियों को औद्योगिक विवादों के समाधान में मध्यस्थता करने और उसे प्रोत्साहित करने का दायित्व सौंपा गया, तथा अधिनियम ने सुलह की एक संपूर्ण प्रक्रिया भी स्थापित की।⁸ 1940 में अधिनियमित मध्यस्थता अधिनियम ने सिविल प्रक्रिया संहिता में विद्यमान संबंधित प्रावधान को निरस्त कर दिया था। तत्पश्चात भारतीय संसद ने 1987 में विधिक सेवा प्राधिकरण अधिनियम पारित कर राष्ट्रीय विधिक सेवा प्राधिकरण (नालसा) की स्थापना की, जिसके प्रमुख संरक्षक भारत के मुख्य न्यायाधीश होते हैं।⁹ इस प्राधिकरण को, अन्य कार्यों के अतिरिक्त, बातचीत, मध्यस्थता और सुलह के माध्यम से विवाद-समाधान को प्रोत्साहित करने, विधिक सेवाओं हेतु किफ़ायती योजनाएँ बनाने, तथा बार काउंसिल के सहयोग से मध्यस्थता-प्रशिक्षण कार्यक्रम आयोजित करने का दायित्व सौंपा गया है। 1988 की विधि आयोग की 129वीं रिपोर्ट तथा 1990 की न्यायमूर्ति मालीमठ की अध्यक्षता वाली शेष-मामला समिति की रिपोर्ट ने नगरीय मुकदमेबाज़ी में सुलह-न्यायालयों की स्थापना की सिफ़ारिश की। आर्थिक उदारीकरण की नीतियों और अंतरराष्ट्रीय विधिक सुधारों को अपनाए जाने के पश्चात, विद्वज्जन इस बात पर सहमत हुए कि वाणिज्यिक एवं सिविल विवादों में उन्नत मध्यस्थता-उपकरणों का प्रयोग सिविल अदालतों में लंबित मामलों की गंभीर

7 श्रीराम पंचू, मिडिएशन – प्रैक्टिस एंड लॉ: द पाथ टू सक्सेसफुल डिस्प्यूट रेज़ोल्यूशन (LexisNexis, तृतीय संस्करण, 2021)।

8 औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947, धारा 4 (सुलह अधिकारियों की नियुक्ति)।

9 विधिक सेवा प्राधिकरण अधिनियम, 1987 (नालसा की स्थापना)।

समस्या का एक महत्वपूर्ण समाधान है। वर्ष 1995-96 में, तत्कालीन भारत के मुख्य न्यायाधीश श्री ए.एम. अहमदी के नेतृत्व में सर्वोच्च न्यायालय ने भारतीय सिविल न्याय-प्रणाली में विलंब को दूर करने हेतु संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ एक संयुक्त अध्ययन किया, जिसमें प्रत्येक उच्च न्यायालय को एक अध्ययन-दल गठित करने तथा विशिष्ट भारतीय संदर्भ हेतु केस-प्रबंधन सिद्धांतों के कार्यान्वयन का प्रस्ताव तैयार करने का दायित्व सौंपा गया। भारतीय संसद ने 1996 में मध्यस्थता एवं सुलह अधिनियम पारित किया, जिसने कानूनी संबंधों से उत्पन्न विवादों में चाहे वे संविदात्मक हों अथवा न हों सुलह की एक व्यापक प्रक्रिया स्थापित की।¹⁰ 1999 के प्रथम संशोधन अधिनियम ने सिविल प्रक्रिया संहिता में एडीआर-प्रावधानों को समाविष्ट किया, और 2002 के द्वितीय संशोधन ने धारा 89 को पूर्णतः क्रियान्वित करते हुए न्यायालयों के लिए उपयुक्त लंबित मामलों को अनिवार्यतः एडीआर के पास संदर्भित करना आवश्यक बना दिया।¹¹ इन संशोधनों की संवैधानिक वैधता को सर्वोच्च न्यायालय ने सेलम एडवोकेट बार एसोसिएशन बनाम भारत संघ मामले में सुनिश्चित किया, जिसमें न्यायमूर्ति एम. जगन्नाथ राव की अध्यक्षता वाली समिति की सिफारिशों को अंगीकार करते हुए धारा 89 के प्रभावी क्रियान्वयन हेतु प्रतिरूप नियम तैयार करने का निर्देश दिया गया।¹² पश्चात्तवर्ती वाद अफ्रकॉन्स इंफ्रास्ट्रक्चर लिमिटेड बनाम चेरियन वर्की कंस्ट्रक्शन कंपनी में सर्वोच्च न्यायालय ने धारा 89 में विद्यमान प्रारूपण-संबंधी विसंगतियों को स्पष्ट करते हुए यह प्रतिपादित किया कि पक्षों की सहमति अथवा विद्यमान मध्यस्थता-करार के अभाव में न्यायालय पक्षों को बलपूर्वक मध्यस्थता हेतु निर्दिष्ट नहीं कर सकता।¹³

हाल के वर्षों में मद्रास, बंबई, नई दिल्ली, इलाहाबाद और बेंगलुरु सहित कई उच्च न्यायालयों ने न्यायालय-संबद्ध मध्यस्थता केंद्र स्थापित किए हैं; इस दिशा में मद्रास उच्च न्यायालय अग्रणी रहा, जिसने 2005 में देश का प्रथम न्यायालय-संबद्ध मध्यस्थता केंद्र तमिलनाडु मध्यस्थता एवं सुलह केंद्र स्थापित किया।¹⁴ सर्वोच्च न्यायालय द्वारा गठित मध्यस्थता एवं सुलह परियोजना समिति ने दिल्ली की अधीनस्थ अदालतों में अपनी पहली परियोजना आरंभ की, जहाँ कार्यरत न्यायाधीशों ने ही मध्यस्थ के रूप में कार्य किया, और तब से यह पहल देश भर में मध्यस्थता-सेवाओं के विस्तार में सहायक रही है। संसद ने वाणिज्यिक न्यायालय अधिनियम, 2015 के अंतर्गत मुकदमा-पूर्व अनिवार्य मध्यस्थता का भी प्रावधान किया।¹⁵ इस विकास-यात्रा का सर्वाधिक महत्वपूर्ण चरण मध्यस्थता अधिनियम, 2023 का अधिनियमन है, जिसने पहली बार मध्यस्थता के लिए एक व्यापक, स्वतंत्र संहिता स्थापित की तथा भारतीय मध्यस्थता परिषद के गठन का प्रावधान किया।¹⁶ विधि एवं न्याय मंत्रालय ने अगस्त 2026 में अधिसूचना जारी कर औपचारिक रूप से भारतीय मध्यस्थता परिषद का गठन कर दिया,¹⁷ जो मध्यस्थों के पंजीकरण, मध्यस्थता-संस्थाओं की मान्यता तथा प्रशिक्षण-मानकों के निर्धारण हेतु उत्तरदायी होगी—अर्थात् वह संस्था, जिसकी आवश्यकता विद्वानों द्वारा वर्षों से प्रतिपादित की जा रही थी, अब वास्तविकता का रूप ले चुकी है।

10 मध्यस्थता एवं सुलह अधिनियम, 1996, भाग तृतीय (सुलह)।

11 सिविल प्रक्रिया संहिता (संशोधन) अधिनियम, 1999; सिविल प्रक्रिया संहिता (संशोधन) अधिनियम, 2002; धारा 89, सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908।

12 Salem Advocate Bar Ass'n, T.N. v. Union of India, (2005) 6 SCC 344।

13 Afcons Infrastructure Ltd. v. Cherian Varkey Constr. Co. (P) Ltd., (2010) 8 SCC 24।

14 सुप्रा नोट 8।

15 वाणिज्यिक न्यायालय अधिनियम, 2015, धारा 12क (मुकदमा-पूर्व अनिवार्य मध्यस्थता)।

16 मध्यस्थता अधिनियम, 2023 (15 सितंबर 2023 को अधिसूचित)।

17 विधि एवं न्याय मंत्रालय, अधिसूचना, भारतीय मध्यस्थता परिषद का गठन (27 अगस्त 2026); मध्यस्थता अधिनियम, 2023, धारा 31।

मध्यस्थता अधिनियम, 2023 की संरचना पर दृष्टि डालना उपयोगी होगा। अधिनियम मध्यस्थता को विस्तृत रूप से परिभाषित करता है, जिसमें मुकदमा-पूर्व मध्यस्थता, ऑनलाइन मध्यस्थता, सामुदायिक मध्यस्थता तथा सुलह सभी सम्मिलित हैं। मध्यस्थता-कार्यवाही की गोपनीयता अनिवार्य है, और सामान्यतः इसे 180 दिनों की अवधि में—पक्षों की सहमति से अधिकतम 180 दिनों के विस्तार सहित पूर्ण करना आवश्यक है; कोई भी पक्ष कम-से-कम दो सत्रों की भागीदारी के पश्चात प्रक्रिया से हट सकता है। मध्यस्थता के परिणामस्वरूप हुआ समझौता सामुदायिक मध्यस्थता को छोड़कर न्यायालय की डिक्ली के समान अंतिम, बाध्यकारी और प्रवर्तनीय माना जाता है, तथा इसे केवल कपट, भ्रष्टाचार, प्रतिरूपण अथवा मध्यस्थता हेतु अनुपयुक्त विवाद-विषय जैसे सीमित आधारों पर ही चुनौती दी जा सकती है। भारतीय मध्यस्थता परिषद में एक अध्यक्ष, मध्यस्थता अथवा एडीआर के अनुभवी दो पूर्णकालिक सदस्य, विधि सचिव सहित तीन पदेन सदस्य, तथा उद्योग-निकाय का एक अंशकालिक सदस्य सम्मिलित होंगे; परिषद मध्यस्थों के पंजीकरण, मध्यस्थता-संस्थाओं की मान्यता, तथा निरंतर प्रशिक्षण एवं प्रमाणन के दायित्व का निर्वहन करेगी। सामुदायिक मध्यस्थता के लिए अधिनियम तीन मध्यस्थों के एक पैनल का प्रावधान करता है, जो किसी इलाके के निवासियों के मध्य शांति और सौहार्द को प्रभावित करने वाले विवादों के समाधान हेतु गठित किया जाएगा—यह प्रावधान भारतीय पंचायत परंपरा की सामूहिक निर्णय-प्रक्रिया से गहरा साम्य रखता है।¹⁸

६. ऑनलाइन मध्यस्थता

कुछ परिस्थितियों में आमने-सामने की बैठकें निस्संदेह अनिवार्य रहेंगी, विशेषतः मध्यस्थता के उन संदर्भों में जहाँ सहयोगात्मक संबंध सकारात्मक परिणाम देते हैं। तथापि कोविड-19 महामारी ने संपूर्ण विश्व-समुदाय के समक्ष अभूतपूर्व चुनौतियाँ प्रस्तुत कीं; फर्मों को या तो परिचालन स्थगित करना पड़ा अथवा दूरस्थ-कार्य व्यवस्था के माध्यम से डिजिटल रूपांतरण अपनाना पड़ा। इसके बावजूद विवादों का प्रसार नहीं थमा, अपितु महामारी के आर्थिक दुष्प्रभावों ने संविदात्मक दायित्वों की अपूर्ति के कारण नए विवादों को जन्म दिया। ऐसी परिस्थिति में, जब भारतीय अदालतें अपनी विशाल लंबित-मामलों की संख्या के कारण वर्चुअल न्यायालय-प्रणाली को प्रभावी ढंग से नियोजित करने में असमर्थ रहीं, तब ऑनलाइन विवाद समाधान (ओडीआर), और विशेषतः ऑनलाइन मध्यस्थता, एक प्रमुख गैर-न्यायिक तंत्र के रूप में उभरा। ऑनलाइन मध्यस्थता में विवाद के पक्षों को किसी विशिष्ट स्थान पर शारीरिक रूप से उपस्थित होने की आवश्यकता नहीं होती; इसके स्थान पर आभासी मंचों का उपयोग कर मध्यस्थता-कार्यवाही संपन्न की जाती है। दूरस्थ प्लेटफॉर्म उन व्यवसायों के लिए भी आकर्षक हैं जो अपने पर्यावरणीय प्रभाव को न्यूनतम करना चाहते हैं, तथा यह सीमित वित्तीय संसाधनों वाले वादियों के लिए एक किफ़ायती विकल्प प्रस्तुत करता है। इंटरनेट एंड मोबाइल एसोसिएशन ऑफ़ इंडिया की 'इंडिया इंटरनेट 2019' रिपोर्ट के आँकड़े दर्शाते हैं कि भारत, विशेषतः उसके बड़े नगरों में, इंटरनेट-उपयोग की दर विश्व के अनेक देशों की तुलना में अत्यधिक है, जो ऑनलाइन मध्यस्थता को एक विश्वसनीय ओडीआर-पद्धति के रूप में स्वीकार किए जाने का आधार प्रदान करती है।¹⁹ तथापि यह भी तर्क दिया गया है कि मध्यस्थता का मूल दायित्व पक्षों के मध्य विश्वास-निर्माण करना है, और चूँकि मध्यस्थता के अधिकांश लाभ आमने-सामने के संचार पर निर्भर करते हैं, अतः ऑनलाइन मध्यस्थता के अपेक्षित लाभ अब भी विवाद का विषय बने हुए हैं। विवादित पक्षों को यह तय करने से पूर्व कि किस मंच का चयन करें, अपने विधिक प्रतिनिधियों से परामर्श करना चाहिए।

18 सुप्रा नोट 17।

19 इंटरनेट एंड मोबाइल एसोसिएशन ऑफ़ इंडिया (IAMAI), इंडिया इंटरनेट 2019 रिपोर्ट (2019)।

७. सामुदायिक मध्यस्थता, मध्यस्थ-कौशल और संस्थागत चुनौतियाँ

सामुदायिक संदर्भ में मध्यस्थता, इस प्रक्रिया के दायरे और प्रभाव को व्यापक बनाने की एक अत्यंत प्रभावी रणनीति हो सकती है। यद्यपि सामुदायिक मध्यस्थता के परिणामस्वरूप बनने वाले समझौते में औपचारिक विधिक प्रवर्तनीयता का अभाव हो सकता है, तथापि इससे उसका नैतिक दायित्व कम नहीं होता। सामुदायिक मध्यस्थता ने विश्व भर में व्यापक लोकप्रियता अर्जित की है और अनेक देशों में समुदायों को तीव्रतर रूप से विवादास्पद होने से रोकने में सफलता पाई है; इसकी उदार और एकजुट प्रकृति के कारण समुदाय के हितधारकों ने इसके प्रति पर्याप्त स्वीकार्यता प्रदर्शित की है।

प्रायः तीव्र भावनाओं से संबद्ध परिस्थितियों को प्रभावी ढंग से प्रबंधित करने हेतु मध्यस्थों को विशिष्ट दृष्टिकोण और तकनीकों को अपनाना आवश्यक होता है, यथा सकारात्मक वातावरण का सृजन, तनाव-न्यूनीकरण, आक्रामक भावनाओं का नियमन, पक्षों को अपनी भावनाएँ व्यक्त करने में सुविधा प्रदान करना—विशेषतः जब वे स्वयं ऐसा करने में अनिच्छुक हों स्वीकार्य व्यवहार का प्रतिमान प्रस्तुत करना, तथा व्यावहारिक समाधान की संभावना के प्रति आशावाद व्यक्त करना। स्पष्टतः मध्यस्थों की बौद्धिक क्षमता, सामाजिक कौशल, व्यक्तित्व और भाषा-दक्षता जैसे तत्व पक्षों की आवश्यकताओं, चिंताओं और प्रेरणाओं को समझने-संबोधित करने हेतु अनिवार्य हैं। तथापि भारत में प्रशिक्षित मध्यस्थों तथा आवश्यक अवसंरचना की उपलब्धता में पर्याप्त कमी स्पष्टतः विद्यमान है। मध्यस्थता अधिनियम, 2023 में मुकदमा-पूर्व मध्यस्थता को सम्मिलित किया जाना एक महत्वपूर्ण घटक है, जो इसे विवाद-समाधान के पसंदीदा प्रथम चरण के रूप में प्रोत्साहित करता है; तथापि औपचारिक मध्यस्थता-प्रक्रियाओं को अनौपचारिक तरीकों से प्रतिस्थापित नहीं किया जाना चाहिए। सुसंगत तथा उच्च-गुणवत्तायुक्त मानकों को बनाए रखने के लिए प्रमाणन और मान्यता की एक सुदृढ़ प्रक्रिया अनिवार्य है—यह दायित्व अब नवगठित भारतीय मध्यस्थता परिषद पर है, जो मध्यस्थों के पंजीकरण, प्रशिक्षण और मध्यस्थता-सेवा प्रदाताओं की मान्यता हेतु उत्तरदायी होगी। न्यायालय-आदेशित मध्यस्थता आज भी सामान्य प्रचलन में है, किंतु परिषद के पूर्णतः कार्यशील होने से यह अपेक्षा की जाती है कि अधिकाधिक कंपनियाँ और व्यक्ति स्वेच्छा से मध्यस्थता का चयन करेंगे, जिससे वाणिज्यिक विवादों के समाधान में इसकी भूमिका का और विस्तार होगा। इस दिशा में विधि विश्वविद्यालयों, राज्य विधिक सेवा प्राधिकरणों तथा बार काउंसिल के मध्य समन्वय की महत्वपूर्ण भूमिका है। मध्यस्थता-कौशल को स्नातक विधि-पाठ्यक्रम का अनिवार्य अंग बनाया जाना, नियमित सतत-विधिक-शिक्षा कार्यशालाओं का आयोजन, तथा अनुभवी मध्यस्थों द्वारा नए मध्यस्थों के लिए संरक्षण कार्यक्रम ये तीनों उपाय मिलकर उस अवसंरचनात्मक कमी को दूर कर सकते हैं जो वर्तमान में मध्यस्थता के व्यापक प्रसार में सबसे बड़ी बाधा है। भारतीय मध्यस्थता परिषद के गठन के पश्चात यह अपेक्षित है कि वह इन प्रशिक्षण-मानकों को एकरूप एवं राष्ट्रव्यापी रूप देगी, जिससे ग्रामीण और शहरी दोनों क्षेत्रों में समान गुणवत्ता की मध्यस्थता-सेवाएँ सुलभ हो सकें।

८. निष्कर्ष

विश्व भर में मध्यस्थता आशा के एक स्वर्णिम सेतु के रूप में तीव्रता से कार्य कर रही है, जो न्यायालयों के कार्यभार को न्यून करती है, खंडित संबंधों को सुदृढ़ बनाती है और दीर्घकालिक समझौतों को प्रोत्साहित करती है। महात्मा गांधी, अब्राहम लिंकन और नानी पालखीवाला जैसी उल्लेखनीय विधिक हस्तियों ने न्यायालय के बाहर विवाद सुलझाने, विच्छेदित पक्षों में सामंजस्य स्थापित करने तथा मुकदमेबाजी को रोकने में ही अपनी सच्ची संतुष्टि पाई। गौतम बुद्ध की शिक्षा के अनुसार, शांति लाने वाला एक शब्द सहस्र खोखले वाक्यों से कहीं अधिक मूल्यवान होता है यह भावना प्रसिद्ध संस्कृत सूक्ति 'संतोषम् परमं सुखम्' में भी प्रतिबिंबित होती है।

भारत में मध्यस्थता, विवाद-समाधान की एक विधि के रूप में, अत्यंत प्राचीन इतिहास रखती है—यह हमारी ग्रामीण और आदिवासी परंपराओं में आज भी अपने मौलिक स्वरूप में संरक्षित है। तथापि वर्तमान सामाजिक परिदृश्य की माँगों की पूर्ति हेतु इस पारंपरिक दृष्टिकोण को सफलतापूर्वक आधुनिक बनाने के लिए अटूट समर्पण और सतत परिश्रम अपेक्षित है। सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 89 से आरंभ होकर मध्यस्थता अधिनियम, 2023 तथा भारतीय मध्यस्थता परिषद् के गठन तक की विधायी यात्रा यह प्रदर्शित करती है कि भारत इस दिशा में सुनिश्चित कदम उठा रहा है। किंतु अकेले विधायी मान्यता पर्याप्त नहीं; प्रशिक्षित मध्यस्थों, सुदृढ़ अवसंरचना, जन-जागरूकता तथा प्रमाणन-मानकों के अभाव में मध्यस्थता की वास्तविक क्षमता अधूरी रह जाएगी। भारतीय ज्ञान प्रणाली में निहित यह प्राचीन प्रज्ञा—लचीलापन, सामूहिक सहमति, आत्मनिरीक्षण और संबंधों के सौहार्दपूर्ण संरक्षण पर आधारित—आधुनिक भारत के लिए एक सशक्त मार्गदर्शक सिद्ध हो सकती है, बशर्ते इसे संस्थागत प्रतिबद्धता के साथ आगे बढ़ाया जाए।